

2. श्री समयसारजी गाथा १ से १६ का संक्षिप्त सारांश

गाथा-१

(१) इस मंगलाचरणरूप गाथा में सूत्रकार कुन्दकुन्दाचार्य देव ने ध्रुव, अचल तथा अनुपम दशा को प्राप्त समस्त सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार किया है तथा 'समयप्राभृत' को कहने की प्रतिज्ञा की है।

(२) समयसार के आद्य टीकाकार अमृतचन्द्राचार्य ने सिद्धों के तीनों विशेषणों की व्याख्या इसप्रकार की है।

(अ) पंचमगति या सिद्धदशा ध्रुव है, क्योंकि वह ध्रुवस्वभाव के अवलम्बन से उत्पन्न होने से ध्रुवपने को प्राप्त हुई है।

(ब) राग-द्वेष-मोह रूप परभावों के निमित्त से चतुर्गति परिभ्रमण होता था और सचलपना रहता था। अब सिद्धदशा परभावों की विश्रान्ति (अभाव) होने से चतुर्गति परिभ्रमण मिट जाने के कारण अचलपने को प्राप्त हुई है।

(क) धर्म-अर्थ और काम ये त्रिवर्ग हैं, मोक्ष या सिद्धदशा इन तीनों से भिन्न होने के कारण अपवर्ग संज्ञा वाली है तथा जगत में समस्त उपमा योग्य (उपमान) पदार्थों से भिन्न होने के कारण अनुपमपने को प्राप्त है।

(३) वे सिद्ध भगवान साध्य निजात्मा के कारण है अर्थात् संसारी भव्यजीव सिद्धों के समान अपने स्वरूप को ध्याकर सिद्ध हो जाते हैं।

(४) ऐसे सिद्ध भगवन्तों को अपने आत्मा में तथा पर के आत्मा में स्थापित करके स्व तथा पर के अनादि-मोह का नाश करने के लिए समय या आत्मा को प्रकाशित करने वाले अर्हन्त

प्रवचन के अंशरूप जो प्राभृत हैं, उनका परिभाषण करते हैं।

(५) वह प्राभृत प्रामाणिक है, क्योंकि वह सर्वज्ञ केवली भगवान द्वारा प्रणीत है तथा केवलियों के निकटवर्ती साक्षात् सुनने तथा स्वयं अनुभव करने वाले गणधर द्वारा कथित है।

(६) सर्व सिद्धों की वन्दना करने का आशय यह है कि सिद्ध अनन्त हुए हैं। अनादि-अनन्त एक परमात्मा या सिद्ध नहीं है। अतः यह मान्यता ठीक नहीं है कि ईश्वर एक ही है तथा वह अनादि-अनन्त है।

(७) इस ग्रन्थ में शुद्धात्मा का स्वरूप अभिधेय अर्थात् कथन योग्य है, शुद्धात्मा वाच्य है और उसके निरूपण करने वाले शब्द वाचक हैं तथा शुद्धात्मा के स्वरूप की प्राप्ति होना प्रयोजन है। इस तरह अभिधेय, वाच्य-वाचक संबंध तथा प्रयोजन का निरूपण किया गया है।

(८) आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार की आत्मख्याति टीका में 'परिभाषा शैली' का प्रयोग किया है। जो अधिकार को अर्थ द्वारा यथास्थान सूचित करें उसे परिभाषा शैली कहते हैं। परन्तु जयसेनाचार्य ने समयसार की तात्पर्यवृत्ति टीका में 'पदखण्डना' शैली का प्रयोग किया है। गाथा सूत्र में आये हुए जो पद या शब्द हैं, उनकी व्याख्या क्रमशः करना पदखण्डना शैली है।

गाथा-२

(९) गाथा २ में स्वसमय और परसमय का स्वरूप कहा है। वहां दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय आत्मस्वभाव में स्थित आत्मा स्वसमय है और पुद्गल कर्मों के प्रदेशों में स्थित आत्मा को परसमय है - ऐसा जानो।

(१०) 'समय' शब्द का अर्थ- सम् + अय = समय या सम् अर्थात् युगपत् एकसाथ तथा अय् अर्थात् गमन करना या परिणमन करना तथा ज्ञान करना। इस तरह जो एक साथ परिणमन करे तथा जाने उसे समय कहा है। ऐसा स्वरूप जीव का ही है, अतः जीव को 'समय' कहते हैं।

(११) जीव पदार्थ हमेशा परिणमन स्वभाव में विद्यमान रहता है, अतः वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की एकतारूप अनुभूति लक्षण रूप सत्ता वाला है।

(१२) इस परिभाषा में जीव को सत्तावान कहा है, उससे जीव का सर्वथा अभाव मानने वाले नास्तिक मत का तथा जीव को सर्वथा अनित्य माननेवाले बौद्धमत का निराकरण हुआ है। साथ ही उसे परिणामी या उत्पाद-व्यय वाला भी कहा है उससे सर्वथा अपरिणामी माननेवाले सांख्यमत का तथा सर्वथा नित्य माननेवाले नैयायिक एवं वैशेषिक मत का निराकरण हुआ है।

(१३) जीव को चैतन्यस्वरूप, नित्य, उद्योतरूप, स्पष्ट दर्शन-ज्ञान ज्योतिस्वरूप कहा है, उससे जीव को ज्ञानाकार स्वरूप न माननेवाले सांख्यमतवालों का निराकरण हुआ है।

(१४) इसी तरह जीव को अनन्तधर्मों में रहने वाला एक धर्मी द्रव्य कहा है, उससे वस्तु को अनेक धर्मों से रहित मानने वाले बौद्धमतियों का निराकरण हुआ है।

(१५) द्रव्य को अपनी क्रमवर्ती पर्यायों तथा अक्रमवर्ती गुणों में प्रवर्तन करनेवाला सिद्ध किया है। उससे आत्मा को सर्वथा निर्गुण माननेवाले सांख्यमत का निराकरण हुआ है।

(१६) जीव अपने तथा पर के आकारों को प्रकाशित करने

की सामर्थ्य वाला होने से समस्त रूपों को प्रकाशित करने वाली एकता को प्राप्त है। इस विशेषण से ज्ञान अपने को ही जानता है ऐसा मानने वालों का निराकरण हुआ है। इससे सिद्ध हुआ कि ज्ञान कथंचित् एकाकार (अमेचक) है तथा कथंचित् अनेकाकार (मेचक) है।

(१७) वह जीव अन्य द्रव्यों अर्थात् धर्म-अधर्म-आकाश-काल-पुद्गल से भिन्न कहा है, इससे जगत में एक ब्रह्मवस्तु को ही मानने वाले ब्रह्मवादियों का भी खण्डन हुआ है।

(१८) जीवद्रव्य का अन्य का अन्य द्रव्यों के साथ एक क्षेत्रावगाह संबंध होने पर भी वह जीव पदार्थ अपने टंकोत्कीर्ण चैतन्य स्वभावरूप ही रहता है। परद्रव्यरूप नहीं होता है।

(१९) जब यह जीव सर्व पदार्थों के प्रकाशक केवलज्ञान को उत्पन्न करने वाली भेदज्ञान ज्योति का उदय होने पर सर्व परद्रव्य से छूट कर अपने दर्शन-ज्ञान स्वभाव में लीन होता है, तब वह 'स्वसमय' होता है।

(२०) जब वह अनादि मोहोदयानुसार प्रवृत्ति करता है तब दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य से छूट कर मोहरागादिरूप परिणमन करता हुआ प्रदेशों में स्थित होने से 'परसमय' रहता है।

इसप्रकार जीव पदार्थ के स्वसमय परसमय रूप द्विविधता प्रकट होती है।

गाथा-३

(२१) यहाँ 'समय' शब्द का अर्थ सभी पदार्थ हैं, क्योंकि 'समय' शब्द का व्युत्पत्ति अर्थ 'समयते' अर्थात् एकत्वरूप से गुण पर्यायों को प्राप्त होकर परिणमन करे, वह समय है। सभी द्रव्य अपने

गुण-पर्यायों में परिणमते हैं, अतः छहों जाति के द्रव्य समय हैं।

(२२) यद्यपि छहों द्रव्य एकक्षेत्रावगाहरूप से रहते हैं, तथापि अपने स्वरूप को नहीं छोड़ते। सभी पदार्थ अपने-अपने स्वभाव में स्थित होने से ही सुन्दरता पाते हैं। अतः वास्तव में वस्तु का एकत्व ही सर्वत्र सुन्दर होता है।

गाथा-४

(२३) सभी जीवों ने अपने एकत्व-स्वभाव से विरुद्ध विसंवाद उत्पन्न करने वाली काम-भोग तथा बंधन की कथा तो सुनी है, परिचय की है तथा अनुभव की है; परन्तु अपने स्वभाव से अभिन्न और पर से भिन्न ऐसे एकत्व-विभक्त आत्मा की चर्चा न तो कभी सुनी है, न परिचय की है और न अनुभव की है, अतः आत्मा की चर्चा सुलभ नहीं रही है अर्थात् दुर्लभ रही है।

(२४) आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा की टीका में लिखते हैं कि जगतजनों को अन्तरङ्ग में प्रगट प्रकाशमान आत्मा अनुभव गोचर होता है; परन्तु (क) कषायचक्र से एकाकार होने से (ख) स्वयं को आत्मा के स्वरूप का ज्ञान न होने से तथा (ग) आत्मा के जानकार - अनुभवी ज्ञानीजनों की सेवा-संगति न करने से पर से भिन्न आत्मा का श्रवण, परिचय एवं अनुभव दुर्लभ रहा है।

गाथा-५

(२५) इस गाथा में कुन्दकुन्दाचार्य देव उस एकत्व-विभक्त अर्थात् स्व से एकत्व और पर से विभक्त भिन्न आत्मा को निज वैभव से दिखाते हैं। वे कहते हैं यदि मैं शुद्धात्मा को दिखाऊँ तो तुम अपने अनुभव से प्रमाण करना, कहीं चूक जाऊँ तो छल ग्रहण नहीं करना।

(२६) शब्दब्रह्म या अर्हन्त के परमागम के अभ्यास से, निर्दोष युक्ति के आलंबन से, परम्परागत अन्तर्निर्मग्य गुरुओं के प्रसाद (निमित्त) से दिये गये शुद्धात्म तत्त्व के उपदेश से और निरन्तर झरते हुए स्वाद में आते हुए सुंदर निजानंद के अनुभव से मेरे निजवैभव का जन्म हुआ है।

गाथा-६

(२७) शिष्य का प्रश्न 'वह शुद्धात्मा कौन हैं ?' उसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि वह शुद्धात्मा प्रमत्त नहीं है, अप्रमत्त नहीं है, वह तो एक ज्ञायकभाव है जो नित्य शुद्ध है और अनुभवगोचर है।

(२८) टीकाकार लिखते हैं कि वह शुद्धात्मा स्वयं सिद्ध होने से अनादि-अनन्त है, नित्य स्पष्ट प्रकाशमान ज्यातिरूप एक ज्ञायक भाव है।

(२९) वह ज्ञायकभाव, संसार दशा में दूध तथा पानी की तरह कर्म पुद्गलों के साथ एकरूप होने पर भी, द्रव्यस्वभाव की अपेक्षा पुण्य-पाप को उत्पन्न करने वाले शुभ-अशुभ भावरूप नहीं होता है। ज्ञायक तो ज्ञायक ही रहता है। इसलिये ज्ञायक प्रमत्त-अप्रमत्तरूप नहीं होने से शुद्ध ही रहता है।

(३०) ज्ञायक नाम उसे ज्ञेयों को जानने के कारण दिया गया है, यद्यपि ज्ञेयों को ज्ञायक जानता है तथापि उसमें ज्ञेयकृत अशुद्धि नहीं होती है। अशुद्धता अशुद्धनय का तथा शुद्धता शुद्धनय का विषय है। शुद्धनय अपेक्षा अशुद्धता पर्यायदृष्टि है, व्यवहार है।

(३१) यद्यपि शुद्धता व अशुद्धता दोनों वस्तु के धर्म हैं, तथापि अशुद्धता अशुद्धनय का विषय है और अशुद्धनय का विषय संसार है जो दुःखरूप है; अतः दुख मिटाने के लिए शुद्धनय का उपदेश प्रधान है।

गाथा-७

(३२) सदभूत व्यवहार नय से ज्ञानी के दर्शन-ज्ञान व चारित्र के भेद कहे गये हैं; परन्तु परमार्थ से आत्मा में दर्शन-ज्ञान-चारित्र के भेद नहीं हैं।

(३३) जिस प्रकार अग्नि जलाती है अतः दाहक है, पचाती है अतः पाचक है और प्रकाश करती है अतः प्रकाशक है; उसी प्रकार व्यवहार नय से जीव जानता है अतः ज्ञान है, देखता है अतः दर्शन है, आचरता है अतः आचरण (चारित्र) है और परमार्थ से तो जीव शुद्धचैतन्य मात्र अभेद वस्तु है।

गाथा-८

(३४) यदि ऐसा है तो एक परमार्थ का ही उपदेश देना चाहिए, व्यवहार का उपदेश किसलिए दिया है ? इसके समाधान में आचार्य कहते हैं कि जिसप्रकार अनार्य-म्लेच्छ को म्लेच्छ भाषा बिना वस्तु स्वरूप समझाना संभव नहीं है, उसी प्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश देना या समझाना संभव नहीं है, अतः व्यवहार परमार्थ का प्रतिपादक होने से स्थापित करने योग्य तो है; परन्तु अनुसरण करने योग्य नहीं है।

गाथा-९, १०

(३५) व्यवहार परमार्थ का प्रतिपादक कैसे है, वह कहते हैं - जो भावश्रुतज्ञानरूप स्वसंवेदनज्ञान केवल शुद्धात्मा को जानता है वह परमार्थ से श्रुतकेवली है और जो द्वादशांग भेदरूप समस्त द्रव्यश्रुतज्ञान को जानता है वह व्यवहार श्रुतकेवली है; यद्यपि जिस प्रकार पूर्व पुरुषों को शुक्लध्यान रूप स्वसंवेदनज्ञान होता था, उस प्रकार स्वसंवेदन ज्ञान अभी नहीं होता है, तथापि निश्चय धर्मध्यान

के योग्य स्वसंवेदन ज्ञान अभी भी होता है। अतः द्रव्यश्रुत के समस्त विस्तार - भेदकथन का सार निजशुद्धात्मा को भावश्रुतज्ञान द्वारा स्वसंवेदन करना है, अतः व्यवहार परमार्थ का प्रतिपादक है - ऐसा निश्चय करना।

गाथा-११

(३६) व्यवहार नय परमार्थ का प्रतिपादक है तो फिर वह अनुसरण करने योग्य क्यों नहीं है ? इसका समाधान यह है कि व्यवहार नय सर्व ही अभूतार्थ है; क्योंकि वह अविद्यमान अर्थ को बतलाता है, जबकि निश्चय एक ही भूतार्थ है विद्यमान अर्थ को बतलाता है। अभूतार्थ का श्रद्धान परमार्थ न होने से अनुभव या सम्यग्दर्शन का कारण नहीं है, अतः व्यवहार नय अनुसरण करने योग्य नहीं है; परन्तु निश्चय अर्थात् भूतार्थ-सत्यार्थ-यथार्थ यह परमार्थ का प्रतिपादक और वस्तुस्वरूप का सम्यक् अवलोकन करने वाला होने से सम्यग्दर्शन का कारण है।

(३७) शुद्धनय का विषय अभेद या एकाकार रूप नित्य द्रव्य है, उसकी दृष्टि में भेद दिखाई नहीं देते; इसलिए इस दृष्टि में भेद अविद्यमान है अभूतार्थ हैं असत्यार्थ हैं। ऐसा भी नहीं है कि भेदरूप कोई वस्तु ही नहीं है, अपितु नाम, लक्षण तथा प्रयोजन अपेक्षा व्यवहार कथन में भेद कहे जाते हैं। अतः सर्वथा एकान्त भी ग्राह्य नहीं है।

(३८) विशेष यह है कि जिनवाणी स्याद्वाद रूप है, वह प्रयोजनवश मुख्य-गौण करके कथन करती है। प्राणियों को भेदरूप व्यवहार का पक्ष तो अनादि से ही है, उसका उपदेश बहुधा सभी परस्पर में करते हैं, जिनवाणी में भी भेदरूप व्यवहार के कथन बहुत हैं, परन्तु व्यवहार का फल संसार ही है।

(३९) जीव को शुद्धनय का पक्ष तो कभी आया नहीं और उसका उपदेश भी विरल है, अतः शुद्धनय को प्रधान करके उसे भूतार्थ कहा है तथा उसके आश्रय से सम्यग्दृष्टि होते हैं - ऐसा भी कहा है।

गाथा-१२

(४०) व्यवहार नय का उपदेश सर्वथा निषेध्य नहीं है, क्योंकि जो जीव सम्पर्शन-ज्ञान-चारित्र की अपूर्णता रूप अपरमभाव (साधकदशा) वाले हैं, उन्हें जानने में आता हुआ व्यवहार प्रयोजनवान कहा है और जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पूर्णता रूप परमभाव को देखनेवाले हैं, उन्हें शुद्धनय जाना हुआ प्रयोजनवान है।

(४१) जो व्यवहार को सर्वथा असत्यार्थ मानकर छोड़ता है और उसे शुद्धोपयोग की साक्षात् प्राप्ति तो हुई नहीं है; तब वह उल्टा अशुभोपयोग में आकर, भ्रष्ट होकर स्वेच्छाचारी प्रवृत्ति करेगा उससे नरकादि गति तथा परम्परा से निगोदादि को प्राप्त करेगा।

गाथा-१३

(४२) भूतार्थनय, निश्चयनय या शुद्धनय से नवतत्त्वों को जानना सम्यक्त्व है। वहाँ भूतार्थनय से जानने का अर्थ यह है बाह्यतीर्थ की प्रवृत्ति के निमित्तभूत अभूतार्थनय, व्यवहारनय या अशुद्धनय से जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये नवतत्त्वों का भेदरूप उपदेश दिया गया है; परन्तु भूतार्थ नय से उन नवतत्त्वों में छिपी हुई एकत्वरूप आत्मज्योति को प्राप्त कर, शुद्धनय से उसकी अनुभूति होती है, वही आत्मख्याति है।

(४३) व्यवहार नय आत्मा को अवस्थाओं द्वारा विविध प्रकार से दिखलाता है परन्तु शुद्धनय तो आत्मा को एक चैतन्य चमत्कार

मात्र दिखलाता है, इसलिए उस एकाकार स्वरूप आत्मा का अनुभव करना चाहिए तथा पर्यायबुद्धि का एकान्त त्यागना चाहिए।

(४४) प्रमाण की विषयभूत द्रव्य-पर्यायमय वस्तु में द्रव्य स्वभाव की मुख्यता से अनुभव कराये वह द्रव्यार्थिक नय है तथा पर्याय का मुख्यता से अनुभव कराये वह पर्यायार्थिकनय है।

(४५) शुद्धनय समस्त भेदों को गौण करता है, वहाँ शुद्धनय के विषयभूत आत्मा के अनुभव में नयों की लक्ष्मी उदित नहीं होती है, प्रमाण का भेदविकल्प विलय होता है तथा निक्षेप समूह का विकल्प भी दिखाई नहीं देता है; अतः अनुभव में द्वैत भासित ही नहीं होता है, क्योंकि अनुभव अद्वैत तथा निर्विकल्प ही होता है।

गाथा-१४

(४६) शुद्धनय आत्मा को अबद्ध-अस्पृष्ट (बंध तथा स्पर्श से रहित) अनन्य, नियत, अविशेष तथा असंयुक्त ऐसे पाँच भाव रूप से देखता है। ऐसा देखना परमार्थ, भूतार्थ या सत्यार्थ है।

(४७) यद्यपि पर्यायदृष्टि से कर्मों से बद्ध-स्पृष्टपना, अन्य अन्यपना, अनियतपना, विशेषपना तथा संयुक्तपना भूतार्थ है; तथापि पर्याय से हटकर स्वभाव के समीप जाकर द्रव्यदृष्टि या शुद्धनय की दृष्टि से देखा जाये तो ये पाँचों ही भाव अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं।

गाथा-१५

(४८) जो अपने आत्मा को अबद्धस्पृष्टादि पाँचों भावरूप देखता है या अनुभव करता है, वह सम्पूर्ण जिनशासन को देखता या अनुभव करता है।

(४९) सम्पूर्ण जिनशासन द्रव्यश्रुत तथा भावश्रुत रूप है। वहाँ शुद्ध आत्मा का निर्विकल्प स्वसंवेदन भावश्रुतज्ञान है तथा सविकल्प

भेदरूप से जानना वह द्रव्यश्रुतज्ञान है अथवा भावश्रुत तो अनुभव रूप है तथा द्रव्यश्रुत शब्द-विस्तार तथा विकल्परूप है।

गाथा-१६

(५०) साधु पुरुष को दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र का ही सेवन करना चाहिए; क्योंकि ये तीनों आत्मा ही हैं, अन्य नहीं हैं अर्थात् आत्मा से भिन्न नहीं हैं। आत्मा के अनुभव में दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों गर्भित हैं।

(५१) प्रमाणदृष्टि में वस्तु सदा द्रव्य-पर्यायरूप है; परन्तु शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से आत्मा अभेदरूप एक या एकाकाररूप है तथा व्यवहार दृष्टि में भेदरूप अनेक या अनेकाकाररूप है। शुद्धद्रव्यार्थिक नय की दृष्टि में आत्मा एकाकार अनुभवरूप है - इस द्रव्यदृष्टि में पर्यायार्थिक दृष्टि गौण होती है।

- प्रस्तुति : डॉ. उत्तमचन्द्र जैन, छिन्दवाड़ा

3. श्रीसमयसार जी - ४७ शक्तियाँ

ज्ञानानंदस्वभावी आत्मा के एक ज्ञानमात्र भाव के भीतर अनंत शक्तियाँ उछलती हैं, उनमें से ४७ शक्तियों का व्याख्यान आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने समयसार की आत्मख्याति टीका के परिशिष्ट में किया है। आचार्यदेव ने उनका संस्कृत भाषा में बहुत ही सारगर्भित विवेचन अत्यंत संक्षेप में प्रस्तुत किया है, उसी विवेचन के आधार पर यहाँ संस्कृत व्याख्या के साथ उनका संक्षिप्त सारांश भी प्रस्तुत किया गया है।

१. जीवत्वशक्ति - आत्मद्रव्यहेतुभूतचैतन्यमात्रभावधारण लक्षणा जीवत्वशक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, आत्मद्रव्य के कारणभूत चैतन्यमात्र भावप्राण को धारण करता है, उसे जीवत्वशक्ति कहते हैं।

२. चितिशक्ति - अजडत्वात्मिका चितिशक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, जड़रहित चेतनस्वरूप होता है, उसे चितिशक्ति कहते हैं।

३. दृशिशक्ति - अनाकार उपयोगमयी दृशिशक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, अनाकार दर्शनोपयोग स्वरूप होता है, उसे दृशिशक्ति कहते हैं।

४. ज्ञानशक्ति - साकार उपयोगमयी ज्ञानशक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, साकार ज्ञानोपयोगमयी स्वरूप होता है, उसे ज्ञानशक्ति कहते हैं।

५. सुखशक्ति - अनाकुलत्वलक्षणा सुखशक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, अनाकुल सुखस्वरूप होता है, उसे सुखशक्ति कहते हैं।

६. वीर्यशक्ति - स्वरूपनिर्वर्तनसामर्थ्यरूपा वीर्यशक्तिः। अर्थात्